अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित भूमि-कर व्यवस्थाएं

गौतम पांडेय

ज़मींदारी, रैयतवारी व महलवारी व्यवस्थाएं काफी जाने-पहचाने शब्द हैं हमारे लिए। ये भूमि-कर निर्धारण की अलग-अलग व्यवस्थाएँ थीं जो अंग्रेज़ों द्वारा भारत में अपने साम्राज्य निर्माण की दिशा में उठाए गए सबसे महत्वपूर्ण व शुरुआती कदम थे। मगर ये व्यवस्थाएँ केवल भूमि-कर निर्धारण या संग्रहण से संबंधित ही नहीं थीं, इन व्यवस्थाओं ने भविष्य में, भारत में, अंग्रेज़ी साम्राज्य की न केवल रूप रेखा तय की थी बल्कि उसे स्थायित्व प्रदान करने में भी मदद की थी।

भारतीय इतिहास के किसी भी विद्यार्थी के लिए इन व्यवस्थाओं की समझ बनाना निहायत ही आवश्यक होता है– क्योंकि इन

व्यवस्थाओं के निर्धारण के बाद से ले कर आज तक के भारतीय आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक इतिहास पर इन व्यवस्थाओं का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है।

आमतौर पर स्कूली पाठ्यपुस्तकों में इस मुद्दे को भी अन्य दूसरे मुद्दों की तरह काफी शार्ट कट में निपटा दिया जाता है – विद्यार्थियों में इसकी समझ बनाने की कोई कोशिश नहीं की जाती। कारण व संबंध स्थापित करने की ऐसी किसी प्रक्रिया के अभाव के कारण ही शायद विद्यार्थी इतिहास को इतना बोरियत भरा मानने लग जाते हैं।

प्रस्तुत लेख, अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित भूमि-कर निर्धारण की विभिन्न व्यवस्थाओं का न केवल विस्तार से वर्णन करता है बल्कि उन कारणों व ज़रुरतों को भी परखने की कोशिश करता है जिनकी वजह से अंग्रेज़ साहबों ने इन व्यवस्थाओं का निर्माण किया था। इसके अतिरिक्त इन व्यवस्थाओं का तत्कालीन और भविष्य के भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा – उन्हें भी जांचने की कोशिश की गई है।

यह हम सभी जानते हैं कि भारत में अंग्रेज़ दूसरे यूरोपीय देशों के लोगों की तरह व्यापार करने आए थे। उनका उद्देश्य भारत के स्थानीय व निर्यात व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर अधिक-से-अधिक लाभ कमाना था। उस वक्त इस काम में उन्हें अन्य यूरोपीय देशों (पुर्तगाल, हॉलैंड, फ्रांस) के व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी। इस प्रतिस्पर्धा को एकाधिकार में बदलने की प्रक्रिया में इन व्यापारियों (ईस्ट इंडिया कंपनियों) ने स्थानीय शासकों से संबंध बढ़ाना शुरू किया जिससे कि उन्हें उनके क्षेत्रों में व्यापार पर करों में छूट तथा कुछ हद तक एकाधिकार मिल सके। इस संबंध बनाने की प्रक्रिया में इन कंपनियों ने स्थानीय शासकों की न केवल आर्थिक मदद की बल्कि उनको समय-समय पर सैनिक सहायता भी प्रदान की। आपसी प्रतिस्पर्धा की इस प्रक्रिया में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने दूसरे देशों की कंपनियों को काफी पीछे छोड़ दिया। साथ ही स्थानीय शासकों के साथ काम करते हुए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने उनकी कमज़ोरियों को भी अच्छी तरह भांप लिया तथा उसका भरपूर

फायदा अपनी व्यापारिक गतिविधियों के लिए उठाया। मगर कई बार स्थानीय शासक इतने कमज़ोर नहीं होते थे कि अंग्रेज़ उन्हें आसानी से अपने काबू में ले सकें। तो ऐसी स्थिति में ये कंपनियां उनसे युद्ध पर उतर आती थीं।

ऐसी ही स्थिति सन 1757 में बंगाल में आई जब वहां के नवाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेज़ों की इच्छाओं के आगे झुकने से इंकार कर दिया। मगर इसके परिणामस्वरूप जो युद्ध पलासी में हुआ उसमें वह बुरी तरह हार गया और बंगाल पर अंग्रेज़ों का दबदबा पूरी तरह से कायम हो गया। मगर उन्होंने पूरे बंगाल को अपने कब्ज़े में नहीं लिया, उनका उद्देश्य तो व्यापार करना था। इसके पश्चात सन् 1764 में बक्सर की लड़ाई हुई जिसमें अंग्रेज़ों ने बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला व मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय की मिली-जुली सेना को पराजित किया। अपनी इस विजय के पश्चात अन्य फायदों के अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने मुगल बादशाह से बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी अर्थात भूमि-कर वसूलने का अधिकार हासिल कर लिया। पर उस वक्त भी उन्होंने उस क्षेत्र की सामान्य शासन -व्यवस्था अपने हाथों में नहीं ली। वह तो अभी भी बंगाल के कठपुतली नवाब मीर जाफर की ज़िम्मेदारी थी। लेकिन व्यापार करने आए लोगों को लगान वसूली अपने हाथ में लेने की क्या ज़रुरत थी?

धन भारत से ही जुटाओ

दरअसल भूमि-कर संग्रहण का अधिकार अपने हाथों में लेने का अर्थ था उससे होने वाले मुनाफे से अपनी व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाना। इससे पहले ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी अपने देश से धन (सोना, चांदी, आदि) लेकर आती थी और भारत से कपड़े, मसाले आदि खरीदकर यूरोपीय बाज़ारों में बेचकर मुनाफा कमाती थी। मगर यह व्यापार एक तरह से एकतरफा था यानी ईस्ट इंडिया कंपनी अपने यहां का कोई उत्पाद भारत में बेच नहीं पाती थी, इसलिए उन्हें भारतीय उत्पाद खरीदने के लिए अपने देश से धन लाना पड़ता था। इस व्यापार के कारण इंग्लैंड से काफी मात्रा में सोना/चांदी भारत को निर्यात होता था। इस वजह से इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की काफी आलोचना होने लगी और कंपनी पर यह दबाव बनने लगा कि वह व्यापार के मूलधन की व्यवस्था या तो भारत में ही करे या कहीं और से करे।

इसी वक्त कंपनी को भारत में पांव फैलाने का मौका दिखा और उसने ऐसे सभी मौकों का फायदा उठाया जिसमें उसे आर्थिक फायदे हो सकते

थे। ऐसा ही एक मौका उसे पलासी और बक्सर की लड़ाई के बाद मिला था जिसका वर्णन हम ऊपर पढ़ आए हैं। बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी कंपनी के हाथों में आने के बाद उसकी एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई। अब उसे इंग्लैंड के बाज़ार में बेचने के लिए भारतीय माल खरीदने हेतु अपने देश से धन लाने की ज़रूरत नहीं रह गई। इस तरह भारत में ही कमाए पैसे से भारतीय वस्तुएं खरीद कर यूरोपीय बाज़ार में बेचने से उन्हें दोहरा लाभ होने वाला था। इसके अतिरिक्त उसे भारत में होने वाले अपने प्रशासनिक खर्चों तथा अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए लड़े जाने वाले युद्धों के लिए ज़रूरी पैसों की भी चिंता नहीं रही।

लेकिन अब ये सारे खर्च भारतीय किसानों के माथे आ पड़े। ये खर्च कम नहीं थे इसलिए कंपनी के अधिकारियों ने इन खर्चों को पूरा करने के लिए न केवल कर की मात्रा बढ़ाई बल्कि करों के संग्रहण पर भी काफी ध्यान दिया। निश्चित ही अगर अंग्रेज़ों ने भारतीय किसानों पर करों का इतना बड़ा बोझ नहीं लादा होता तो वे भारत में इतना बड़ा साम्राज्य खड़ा नहीं कर सकते थे।

अंग्रेज़ों से पूर्व भारतीय शासक भी लगान को अधिकतम करने के प्रयास में थे। लेकिन वे जानते थे कि अगर उन्हें साल-दर-साल लगान इकट्ठा करते रहना है तो किसानों के हित की रक्षा करनी होगी और खेती को बढ़ावा देना होगा। पर ईस्ट इंडिया कंपनी तो कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने पर तुली थी।

लगान व्यवस्था का विकास

भारतीय शासक प्राचीन काल से ही किसानों से उनकी उपज का एक हिस्सा भूमि-कर के रूप में लेते रहे थे। कर-संग्रहण का काम या तो शासन के कर्मचारियों द्वारा सीधे तौर पर या फिर ज़मींदार, इज़ारेदार (ठेकेदार) जैसे बिचौलियों द्वारा किया जाता था। इन बिचौलियों को संग्रहित कर का कुछ प्रतिशत कमीशन के रूप में मिलता था।

अंग्रेज़ों ने शुरुआत में स्थानीय तौर पर प्रचलित व्यवस्था को ही चलाए रखा, लेकिन आगे चलकर उन्होंने कर निर्धारण और संग्रहण की अलग-अलग व्यवस्थाएं बनाईं जो भारत के अलग-अलग प्रदेशों की सामाजिक व्यवस्था व शासन की ज़रूरतों के अनुसार तैयार की गई थीं। इनके नाम थे ज़मींदारी (स्थाई), रैयतवारी व महलवारी बंदोबस्त।

ये व्यवस्थाएं वर्षों के प्रयोगों के आधार पर निर्मित हुई थीं। कंपनी के अधिकारियों ने कई वर्षों तक तरह तरह के परीक्षण और निरीक्षण किए, कई गलतियां कीं, फिर उन्हें सुधारा, कृषि की उन्नति पर विचार किया और

सबसे महत्वपूर्ण कि सबसे कम झमेला करके सबसे ज़्यादा भू-राजस्व कैसे वसूला जाए, इसी इरादे से अंग्रेज़ शासक वर्ग ने अनेक तरह की भूमि-व्यवस्थाओं का निर्माण किया। इस बीच कंपनी की भू-राजस्व नीति में भी काफी परिवर्तन होता रहा। शुरू में उनका उद्देश्य मात्र अधिकतम लगान इकट्ठा करना था। आगे चल कर कुछ और महत्वपूर्ण उद्देश्य जुड़ गए – जैसे, भारतीय कृषि को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ना और कृषि का बाज़ारीकरण। संक्षेप में इसका इतिहास कुछ इस प्रकार है।

पहला दौर (1764–72)

पलासी के युद्ध के बाद सन् 1759-60 में सबसे पहले अंग्रेज़ों ने चौबीस परगना ज़िले की ज़मींदारी हासिल की थी। इसके पांच वर्ष के अंदर ही कंपनी मुगल सम्राट के फरमान से समूचे बंगाल सूबे की दीवानी के पद पर पहुंच गई।

पहले दौर में अंग्रेज़ों ने लगान वसूली के लिए ठेकेदारी प्रथा को अपनाया। हर क्षेत्र से लगान वसूली करने के अधिकार को नीलाम किया जाता था और जिसने भी सबसे अधिक पैसे जमा करने का वादा किया उसे यह अधिकार दे दिया जाता था। ठेकेदार का प्रयास यह होता था कि वह जल्द-से-जल्द किसानों से ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करे – चाहे वह जायज़ तरीके से लिया गया हो या नाजायज़ तरीके से। इस वक्त बंगाल में एक तरफ नवाब का शासन था तो दूसरी तरफ भू-राजस्व उगाहने का ज़िम्मा अंग्रेज़ कंपनी के हाथ में था – जैसे दो राजा हों। यह एक भयानक स्थिति थी। इस व्यवस्था का किसानों पर क्या प्रभाव पड़ा इसका वयान प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिम चंद्र चटर्जी ने अपने मशहूर उपन्यास *आनंदमठ* में कुछ इस प्रकार किया है–

> *"अंग्रेज़ उन दिनों बंगाल के दीवान थे। वे सरकारी मालगुज़ारी के पैसे तो वसूल कर लेते थे, पर तब तक उन्होंने बंगालवासियों के जान-माल की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी नहीं ली थी। उन दिनों पैसे वसूलने की ज़िम्मेदारी तो अंग्रेज़ों की थी और जान-माल की सुरक्षा का भार ... मीर जाफर पर था। मीर जाफर अफीम की गोली खाता था और पांव फैला कर सोता था। अंग्रेज़ पैसे वसूलते थे और डिस्पैच (रपट) लिखते थे। बंगाली रोता था और कंगाल होता जाता था।"*

इस नीति का परिणाम था किसान की बदहाली जिसने सन् 1769–70 में अकाल का रूप धारण किया।

> *"क्वार-कार्तिक में एक बूंद पानी नहीं बरसा। खेतों में खड़े धान के पौधे एकदम सूख गए। जिन थोड़े से खेतों*

में फसल लगी थी उसे राजा के कर्मचारियों ने सिपाहियों के लिए खरीद लिया। लोगों को खाना नहीं मिल पा रहा था ... पर मोहम्मद रज़ा खां मालगुज़ारी वसूली का मालिक था ... उसने अचानक सौ पर दस रुपए मालगुज़ारी बढ़ा दी। पूरे बंगाल में हाहाकार मच गया। लोगों ने पहले भीख मांगना शुरू किया, बाद में भीख देने वाला भी कोई नहीं रहा। लोगों ने अपने बैल-बछिया बेच दिए। हल-फाल, घर-द्वार बेच दिए और बीजों के लिए रखा धान खा गए, ज़मीनें बेच दीं, फिर अपनी लड़कियां बेचने लगे, फिर अपने लड़के बेचने लगे। बाद में लड़की-लड़कों, स्त्रियों को भी कौन खरीदे? खरीददार कहीं नहीं थे, सभी सिर्फ बेचना चाहते थे। कुछ भी खाने को नहीं रहा तो लोग पेड़ों के पत्ते खाने लगे, घास खाना शुरू किया। जंगली जड़ी-बूटी खाने लगे। कुछ देश छोड़कर परदेश भाग गए। जो भागे वो परदेश में भूख से मरे। जो नहीं भागे वे न खाने लायक चीज़ें खाकर, बिना खाए या बीमार होकर मरने लगे।''

ऐसी हालत में भी भू-राजस्व की वसूली इतनी कठोरता से की गई थी कि 1770 के अकाल वर्ष में, बंगाल के एक तिहाई बाशिंदों की मौत के बावजूद भू-राजस्व की वसूली में कोई कमी नहीं आई।

कुल मिलाकर इस काल में अंग्रेज़ों ने कर संग्रहण की बढ़ोत्तरी में अच्छी सफलता पाई थी। यह बढ़ोत्तरी नीचे की तालिका से स्पष्ट होती है।

वर्ष	संग्रहित कर (रुपयों में)
1764	81,80,000
1771	2,32,00,000

पर मुश्किल यह थी कि नीलामी में बोली बोलकर जो लोग दो-एक साल के लिए ठेके लेते थे वे चट-पट जितना संभव हो उतना लाभ उठाने के लिए बहुत अधिक बढ़ाकर राजस्व की वसूली करते थे। कई बार इसके बावजूद कंपनी को जितनी राशि मिलनी होती थी वह पूरी नहीं हो पाती थी। ज़िलों में पदस्थ रेवेन्यू सुपर-वाइज़र साहब लोग इस बात से एकदम अनभिज्ञ थे कि कहां कितना राजस्व भार बर्दाश्त किया जा सकता है।

दूसरा दौर (1772–86)

1772 से दो-एक साल की ठेकेदारी की जगह, पांच साला बंदोबस्त शुरू हुआ। दरअसल अंग्रेज़ साहबों को यह बात समझ में आने लगी थी कि दो एक सालों के लिए भू-राजस्व जमा करने का ठेका लेने वाले लोगों को किसानों के हित का ध्यान बिल्कुल ही नहीं रहता। उन्हें केवल अपने पैसे

से मतलब रहता था। इस कारण उन्होंने यह विचार किया कि अगर ठेका लंबे समय का होगा तो किसानों की लूट खसोट कुछ कम होगी क्योंकि अगर पहले साल ही किसानों से ज़्यादा वसूल कर लिया जाए तो दूसरे साल वे कुछ भी देने की हालत में नहीं रहेंगे या फिर वे वह गांव छोड़कर भाग जाएंगे।

इसके अतिरिक्त इस काल में पुराने ज़मींदारों के प्रति पक्षपात की भी शुरुआत हुई यानी राजस्व वसूली के ठेके की बोली के दौरान नए लोगों की जगह पुराने ज़मींदारों को वरीयता दी जाने लगी। यह इस समझ के तहत हुआ कि भू-राजस्व के मामलों को नौसिखुए इज़ारेदारों (ठेकेदारों) के मुकाबले, वे कहीं अच्छी तरह से जानते थे। लेकिन नीलामी की प्रथा को बनाए रखा गया, क्योंकि ज़्यादा-से-ज़्यादा कितना भू-राजस्व वसूला जा सकता है, इसका जवाब नीलामी के बाद ही मिलता था। सन् 1777 में पांच साला बन्दोबस्त खत्म होने पर सालाना बन्दोबस्त शुरू हुआ। ज़्यादातर मामलों में पिछले तीन सालों की वसूली के आधार पर ज़मींदारों के साथ इकरार किया गया।

नीति में बार-बार परिवर्तन करने से पता चलता है कि तरह-तरह के परीक्षण और निरीक्षण के बावजूद कंपनी एकदम चाक-चौबंद भू-राजस्व व्यवस्था नहीं बना सकी थी। शुरू से ही उच्च अधिकारियों में आपसी बम-चक मची हुई थी कि बंदोबस्त कितने समय के लिए किया जाए, किनके साथ किया जाए, भू-राजस्व का निर्धारण कैसे हो?

तीसरा दौर (1786–93)

1786 में एक नामी-गिरामी गवर्नर जनरल भारत आए। यह थे लॉर्ड कॉर्नवालिस। वे लन्दन से यह निर्देश लेकर आए थे कि आखिरकार कोई फैसला तो लेना ही होगा। अभी भी बंगाल 1776 के अकाल के धक्के से संभल नहीं पाया था। लोगों की चाहत थी कि अगर भू-राजस्व तय हो जाए तो शायद कोई रास्ता निकाला जा सके। इसके अलावा भू-राजस्व की मात्रा अगर तय कर दी जाए तो भविष्य में उसे बढ़ाने की संभावना भी नहीं रह जाएगी। कंपनी को भी इसकी ज़रूरत थी, क्योंकि इसी भू-राजस्व से प्राप्त धन से वह इस देश में माल खरीदकर इंग्लैंड में बेचती थी और इस तरह प्राप्त होने वाले धन में हर साल होने वाले परिवर्तन से उसकी व्यापारिक गतिविधियों में बाधा आती थी। इसलिए सन् 1789 में कॉर्नवालिस ने ज़मींदारों के साथ एक दस साला बन्दोबस्त किया और इसी बन्दोबस्त को 1793 में 'स्थाई या इस्तमरारी बन्दोबस्त' का नाम दे दिया गया।

ज़मींदारी और स्थाई बंदोबस्त

संक्षेप में 1765 से 1793 के दौरान प्राप्त जानकारी का फल यह था कि कृषि उत्पादन की मात्रा और दाम कितना है, कृषि व्यवस्था को नष्ट किए बिना कितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, भू-राजस्व निर्धारण और वसूली में होने वाले खर्च को किस प्रकार कम किया जा सकता है, यह सब कंपनी के साहबों को समझ में नहीं आया था। अंत में जब कंपनी की हालत ठीक नहीं थी तब लॉर्ड कॉर्नवालिस ने फैसला किया "भू-राजस्व की वसूली ज़मींदारों के हाथ हो। वे प्रजा से कितना वसूलें इस बारे में कंपनी को कुछ तय नहीं करना है। जो भूमि-कर कंपनी को मिलना है, वही अगर ज़मींदार दें तो हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। और अगर ज़मींदार भू-राजस्व न दे सके तो उसकी ज़मींदारी खत्म करके उसकी जगह नए ज़मींदार को बिठा दिया जाए।" बार-बार भू-राजस्व निर्धारण की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए कॉर्नवालिस ने सिफारिश की – "1789-90 में जो देय भू-राजस्व था वह मोटे तौर पर प्रजा द्वारा ज़मींदार को देय राशि का 9/10 भाग था। उसे ही स्थाई रूप से भू-राजस्व मान लिया जाए।" यही था "स्थाई या इस्तमरारी बंदोबस्त"।

इस व्यवस्था के तहत ज़मींदार द्वारा जो राशि शासन को देनी थी वह हमेशा के लिए तय कर दी गई। उसमें भविष्य में बढ़ोत्तरी की कोई संभावना नहीं थी। अगर किसी ज़मींदार को भविष्य में अपनी ज़मींदारी से, चाहे किसी भी कारण से, खेती में सुधार के कारण या सिंचाई की व्यवस्था सुधारने के कारण या फिर उसके ज़्यादा वसूल कर पाने की क्षमता के कारण, ज़्यादा आमदनी होने लगे, तो वो तय राशि का भुगतान करने के बाद शेष अपने पास रख सकता था। शासन उसके सामने और कोई मांग नहीं रख सकता था। लेकिन ज़मींदारों को तय राशि बिल्कुल नियत समय पर चुकाना निहायत ज़रूरी था। अन्यथा उसकी ज़मींदारी के नीलाम होने का खतरा था। शासन को इस बात की कोई परवाह नहीं थी कि फसल ठीक हुई है या नहीं – उसे केवल अपने पैसे से मतलब था।

इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था के तहत शुरुआत में जो भू-राजस्व तय हुआ वो बहुत ही मनमाने ढंग से तय किया गया। कंपनी ने एक बार भी ज़मींदारों से सलाह मशविरा करने की ज़रूरत नहीं समझी। दरअसल, कंपनी के अधिकारियों का मुख्य उद्देश्य कंपनी के लिए अधिक-से-अधिक राशि हासिल करना था। इस कारण भू-राजस्व की दर काफी ऊंची रखी गई। इस व्यवस्था के मुख्य प्रवर्तक जॉन

शोर, जो कॉर्नवालिस के बाद गवर्नर जनरल भी बने, ने अपनी एक गणना के आधार पर बताया था कि अगर बंगाल की कुल उपज को 100 मान लिया जाए तो उसका 45 प्रतिशत सरकार भू-राजस्व के रूप में लेती थी, ज़मींदार व दूसरे बिचौलिए 15 प्रतिशत पर अपना कब्ज़ा जमाते थे तथा केवल 40 प्रतिशत किसानों के पास बचता था।

ज़मींदारों को ज़मीन का स्वामित्व

स्थाई बंदोबस्त के तहत ज़मींदारों को ज़मीन का मालिक मान लिया गया। इसका अर्थ था कि वो अब ज़मीन की खरीद-बिक्री कर सकते थे और किसी भी किसान को उसकी ज़मीन से बेदखल कर सकते थे। लेकिन आगे चलकर अंग्रेज़ों ने यह स्वीकार किया कि 1793 से पहले बंगाल और बिहार में ज़मींदारों को ज़मीन पर मालिकाना हक नहीं था। तो सवाल यह उठता है कि अंग्रेज़ों ने ऐसा किया क्यों?

दरअसल अंग्रेज़ों की यह कोशिश थी कि भारत में भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को आर्थिक विकास का आधार बनाया जाए तथा साथ ही कृषि में पूंजीवाद को बढ़ावा दिया जाए। उस वक्त इंग्लैंड व यूरोप के अन्य देशों में ज़मीन के मालिक बड़े-बड़े सामंती भूस्वामी थे इसलिए अंग्रेज़ अधिकारियों ने भारतीय ज़मींदारों को इंग्लैंड के सामंतों के समकक्ष मान लिया। लेकिन एक महत्वपूर्ण मामले में उन्होंने भिन्नता बनाए रखी। ब्रिटेन का सामंती भूस्वामी अपनी आय का केवल एक छोटा-सा हिस्सा भूमि-कर के रूप में शासन को चुकाता था जबकि बंगाल के ज़मींदार को अपनी कुल आय का 9/10 भाग भू-राजस्व के रूप में चुकाना पड़ता था। इतना ही नहीं, उसे भू-राजस्व समय पर नहीं चुकाने की स्थिति में ज़मींदारी से बेदखल भी किया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों के इस निर्णय के पीछे कुछ और महत्वपूर्ण कारण थे। पहला कारण था अपने लिए भारतीय समाज में एक स्वामीभक्त समुदाय का निर्माण करना। अंग्रेज़ यह जानते थे कि वे भारत में विदेशी हैं और यहां उनका शासन तब तक स्थाई नहीं हो सकता जब तक स्थानीय लोगों का एक समूह उनके प्रति वफादार न हो। उस वक्त ऐसे लोगों की उन्हें सख्त ज़रूरत भी थी क्योंकि 18वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में बंगाल में अंग्रेज़ों को कई विद्रोह का सामना करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने धनी और विशेषाधिकार प्राप्त एक ऐसे ज़मींदार वर्ग का निर्माण किया जो अपना अस्तित्व ब्रिटिश शासन की खुशहाली में ही देखता था। अंग्रेज़ों का यह निर्णय आगे चलकर काफी सफल साबित हुआ क्योंकि स्वतंत्रता

आंदोलन के समय ज़मींदारों का यह पूरा वर्ग आम तौर पर विदेशी शासकों के समर्थन में खड़ा रहा।

दूसरा महत्वपूर्ण कारण था आर्थिक स्थायित्व। कंपनी के लिए भू-राजस्व आमदनी का सबसे प्रमुख स्रोत था। लेकिन 1793 से पहले इस आमदनी में काफी उतार-चढ़ाव होते रहते थे। उदाहरण के लिए रंगपुर की ज़मींदारी से उन्हें 1762 में 11 लाख रुपए मिलते थे। यह रकम 1764 में घट कर केवल 5 लाख रुपए रह गई। लेकिन 1771 में पुनः बढ़ कर 11 लाख पर पहुंच गई जबकि 1786 में यहां से उन्हें कुल 7 लाख रुपए मिल रहे थे। इस तरह के उतार-चढ़ाव से कंपनी काफी परेशान रहती थी। स्थाई बंदोबस्त ने इस उतार-चढ़ाव को न केवल स्थायित्व प्रदान किया बल्कि इस आमदनी को उच्चतम सीमा तक पहुंचा दिया। इसके अतिरिक्त लाखों किसानों से भू-राजस्व सीधे वसूल करने की जगह थोड़े से ज़मींदारों से भू-राजस्व संग्रहित करना काफी आसान व सस्ता भी साबित हुआ।

तीसरा कारण था अंग्रेज़ों का यह विश्वास कि स्थाई बंदोबस्त के तहत करों का परिमाण हमेशा के लिए तय हो जाने के बाद ज़मींदार अपने इलाके में कृषि के विस्तार की कोशिश करेंगे। दरअसल 1770 के दशक में आए अकालों के कारण बंगाल की प्रायः एक तिहाई ज़मीन परती पड़ गई थी। इसलिए उम्मीद की गई थी कि इस बंदोबस्त के बाद दुबारा खेती-बाड़ी बढ़ेगी। दरअसल 18वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों तक अंग्रेज़ भारत में लंबे समय तक अधिकार के बारे में सोचने लगे थे इसलिए छोटे-मोटे फायदों की जगह लंबे समय तक होने वाले फायदों के बारे में ज़्यादा ध्यान दे रहे थे। इसके लिए खेती में स्थायित्व लाना और उसे बाज़ारोन्मुखी करना ज़रूरी था। कृषि में होने वाले विकास से उन्हें भी फायदा होने वाला था जैसे कुछ विशेष फसलों, जैसे गेहूं, कपास, आदि को सस्ते में खरीद कर वे इंग्लैंड के कारखानों को भेज सकते थे।

स्थाई बंदोबस्त से संबंधित एक बात और। इस बंदोबस्त के तहत एक कानून बना था जिसका नाम था– 'सूर्यास्त कानून' (Sunset Law)। इस कानून के तहत प्रत्येक ज़मींदार के लिए अपने लिए मुकर्रर भू-राजस्व को नियत तिथि को सूर्यास्त से पहले चुकाना ज़रूरी था। समय पर भुगतान नहीं कर पाने की स्थिति में उसे ज़मींदारी से बेदखल कर दिया जाता था और उसकी ज़मींदारी नीलाम कर दी जाती थी। इस कानून का बहुत सख्ती से पालन किया जाता था। इस कानून से बचने के लिए अधिकांश ज़मींदार ऋण लेकर भू-राजस्व का भुगतान करते थे मगर फिर भी 1793 से 1815 के बीच

करीब 40 प्रतिशत ज़मींदारी एक हाथ से दूसरे हाथ में चली गई।

ज़मींदारी प्रथा पर पुनर्विचार

अब हम दूसरी भूमि-व्यवस्थाओं पर आते हैं। शासक वर्ग की नज़र में स्थाई बंदोबस्त की सबसे बड़ी खामी यह थी कि लगान को कृषि के विकास और उत्पादन में वृद्धि के मद्देनज़र बढ़ाने का कोई उपाय नहीं रहा। साथ ही इस बंदोबस्त का लाभ न तो किसानों को मिला और न ही सरकार को, जबकि ज़मींदार व उसके अधीन अमले व इज़ारेदार (ठेकेदार) सबसे ज़्यादा फायदे में रहे।

इसी परिप्रेक्ष्य में हम यह समझ सकते हैं कि क्यों ज़मींदारी से मोहमुक्त होकर कंपनी किसी दूसरी भूमि-व्यवस्था के बारे में सोचने लगी। इसका उद्देश्य था बिचौलियों को पूरी तरह से बाहर करके रैयत के साथ सीधे तौर पर इकरारनामा, और स्थाई बंदोबस्त के बदले 20 या 30 वर्ष के अन्तर पर भू-राजस्व का फिर से निर्धारण, जिससे कृषि के विस्तार और बाज़ार की वृद्धि के साथ-साथ सरकार इस बढ़ी हुई आय का हिस्सा पा सके।

बंगाल की भूमि-व्यवस्था की कमियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के अलावा भी इस नई विचारधारा के पीछे एक और बात थी – वह थी उपयोगितावादी (Utilitarian) अर्थ नीति और प्रशासन नीति का प्रभाव। इस नीति के प्रवर्तकों में से प्रमुख थे डेविड रिकार्डो और जॉन बेन्थम। यहां हम रिकार्डो के प्रभाव की चर्चा करते हैं क्योंकि जॉन बेन्थम का प्रभाव मूलतः कानूनी और राजनीतिक पक्ष पर पड़ा था।

रिकार्डो 19वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों के अर्थशास्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ था और बाद के क्लासिकी अर्थशास्त्र पर उसका प्रभाव काफी गहरा था। उन दिनों इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए एक कॉलेज की स्थापना की गई थी – इसका नाम था हेलबेरी कॉलेज। इस कॉलेज के छात्रों के माध्यम से तथा कुछ दूसरे प्रभावशाली व्यक्तियों (जैसे,जेम्स मिल, एलफिंस्टन, जॉन स्ट्रेची आदि) के माध्यम से रिकार्डो की उपयोगितावादी नीति ने इस देश में अपना प्रभाव फैलाया।

रिकार्डो के अनुसार (उनकी पुस्तक का नाम है 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' जो सन् 1821 में प्रकाशित हुई थी) ज़मींदार खुद उत्पादन के लिए कुछ नहीं करता है। मज़दूर अपना श्रम लगाता है, पूंजीपति अपनी पूंजी लगाता है, उद्यमी उद्योग संगठन में सक्रिय होता है। ज़मींदार ज़मीन के लिए जो किराया पाते हैं, वह सीमित मात्रा में उपलब्ध ज़मीन पर उनके एकाधिकार की वजह से

उन्हें मिलता है। उनके विचार में उत्पादन में भूस्वामियों का कोई सकारात्मक योगदान नहीं होता है इसलिए शासन को उनकी आय पर कर लगाना चाहिए। उचित तो यह होता कि ज़मीन पर उनके मालिकाना अधिकार को समाप्त कर शासन सारी ज़मीन अपने हाथ में ले ले और उसे उद्यमी लोगों को उपलब्ध कराए।

संक्षेप में यही रिकार्डो की राजस्व नीति थी जिसने भारत में अपना प्रभाव दिखाया। इस नीति का ज़मींदार विरोधी रुख स्पष्ट है। बंगाल में स्थाई बंदोबस्त को लेकर सरकारी अमलों के मोहभंग की बात हम जान चुके हैं। अब इन दोनों बातों ने मिलकर रैयतवारी और महलवारी भूमि-व्यवस्था के पक्ष में माहौल तैयार किया।

इस समय तक अंग्रेज़ शासकों के कृषि के क्षेत्र में दो प्रमुख उद्देश्य थे, जो किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे के विपरीत थे। एक तरफ वो चाहते थे कि उद्यमी कृषकों को बढ़ावा मिले ताकि वे उत्पादन बढ़ाएं व ऐसी फसल उगाएं जिसकी बाज़ार में (खासकर इंग्लैंड में) मांग हो। रिकार्डो जैसे नए विचारकों के प्रभाव में यह मान्यता बनी कि औद्योगिक कृषि के लिए ज़मींदार एक अवरोध है। लेकिन कंपनी की दूसरी ज़रूरत यह थी कि भू-राजस्व अधिक-से-अधिक हो ताकि प्रशासन का खर्च निकले, व्यापार का मूलधन निकले और एशिया में कंपनी के राज्य विस्तार के लिए धन मिले। इसके लिए ज़रूरी था कि किसान की दैनिक ज़रूरत और कृषि के खर्चे के बाद जो भी बचे उसे लगान के रूप में वसूल कर लिया जाए। ज़ाहिर है कि ऐसा करने पर कृषि को बढ़ावा देने वाला पहला उद्देश्य पूरा करना कठिन था। इस दौर में कंपनी के अधिकारियों का यह प्रयास था कि ज़मींदारी प्रथा को बढ़ावा न देकर सीधे कृषकों से करार किया जाए और लगान की दर ऐसे तय की जाए कि कृषि में उन्नति भी हो और शासन की आय भी अधिकतम हो। समय के साथ अगर कृषि उत्पादन बढ़े तो लगान बढ़ा कर शासकीय आय को भी बढ़ाया जाए। इन्हीं विचारों को लेकर नई लगान पद्धति विकसित की गई जिसे रैयतवारी व महलवारी व्यवस्था का नाम दिया गया।

रैयतवारी तथा महलवारी

रैयतवारी प्रथा अंग्रेज़ी साम्राज्य के दक्षिण तथा पश्चिम भारत में फैलने के साथ जुड़ी है। इस प्रथा के जनक थे टॉमस मुनरो। इन्होंने मद्रास प्रेसीडेंसी में बड़े ही ध्यान से इस प्रथा का निर्माण किया था।

इस व्यवस्था का मूल आधार था रैयत के साथ सीधे करार करना। पर सवाल यह था कि लगान कितना हो? इसका उत्तर आसान नहीं था, क्योंकि

सिद्धांत भले ही सीधा हो पर इस बात का हिसाब करना कि कृषि उपज की मात्रा कितनी है, इस उपज का मूल्य बाज़ार दर से कितना है, कृषि कार्य में किसान का खर्च कितना है, किसान परिवार के श्रम का मूल्य कितना होगा, आदि प्रश्न आसान नहीं थे। पहले, दो प्रश्नों के उत्तर से उत्पादन खर्च निकलेगा। यह खर्च निकालकर जो बचेगा उसका 50 प्रतिशत भू-राजस्व होगा – यही मुनरो की राजस्व नीति थी।

मगर इस तरह के प्रश्नों के उत्तर के लिए जिस तरह के तथ्यों व गणितीय लेखे-जोखे की ज़रूरत थी वह प्राय: समय से नहीं मिल पाते थे, इस कारण 19वीं सदी के आरंभ से 1851 तक कुल आय, 'नेट' आय आदि को लेकर काफी बहस चलती रही। बाद में मुनरो ने भी यह स्वीकार किया कि शुरुआत में भू-राजस्व का निर्धारण बहुत ऊंची दरों (45 से 55 प्रतिशत तक) पर तय हुआ था, क्योंकि फसल और उसके मूल्य के उतार-चढ़ाव के साथ राजस्व का कोई तालमेल नहीं था। लेकिन 1851 में जब 30 वर्षों के लिए नया बंदोबस्त शुरू हुआ तब कुल आय में से खर्चे निकालकर जो बचा, उस 'नेट' आय का 50 प्रतिशत भू-राजस्व निर्धारित किया गया।

बंबई प्रेसीडेंसी में भी मद्रास की तरह रैयत के साथ सीधा इकरारनामा और अस्थाई बंदोबस्त किया गया। परन्तु वहां उसका मूलसूत्र उत्पादन और खर्च का हिसाब नहीं था, बल्कि अलग-अलग ज़मीनों की उत्पादन क्षमता और पुराने बंदोबस्त में राजस्व की दर था। यहां पहले पूरे ज़िले का भू-राजस्व पुराने राजस्व की दर के अनुसार निर्धारित किया जाता था और उसके बाद ज़मीन की उत्पादन क्षमता के अनुसार रैयतों की ज़मीन पर उस राजस्व को विभाजित कर दिया जाता था। ज़्यादातर यह काम ज़िला कलेक्टर के अनुभव और अनुमान पर निर्भर था। मद्रास की तरह बम्बई में भी 30 वर्षों के लिए बंदोबस्त किया गया।

अभी तक की गई दोनों भूमि-व्यवस्थाओं में समूह और संगठन के स्तर पर गांवों के अस्तित्व को नकार दिया गया था। आगे चलकर जब पश्चिमी उत्तर प्रदेश व पंजाब का इलाका अंग्रेज़ों के अधीन आया तो उन्होंने महसूस किया कि वहां ग्रामीण समाज की एकजुटता और प्रशासनिक भूमिका बहुत सजीव थी। इस कारण वहां गांवों को ही राजस्व नियंत्रण (प्रशासन) के काम में लाने का विचार किया गया। साथ ही जिन स्थानों पर कोई ज़मींदार एक बड़े इलाके (महल) का स्वामी था, वहां उसी के साथ इकरारनामा किया गया। गांव अथवा महल पर आधारित भूमि व्यवस्था के साथ रैयतवारी बंदोबस्त की कुछ

नीतियों को मिलाकर तैयार हुई इस व्यवस्था के प्रणेता थे – होल्ट मैकेंज़ी।

इस व्यवस्था में भी उद्देश्य था कृषि कार्य का खर्च निकाल कर उत्पादन के 'नेट' मूल्य का दो-तिहाई भाग भू-राजस्व के रूप में लेना। मगर यह कुछ ज़्यादा था, इसलिए सन् 1855 में इसे 'नेट' मूल्य का आधा कर दिया गया। पर दूसरे प्रदेशों की तरह यहां भी 'नेट' उत्पादन के आधार पर भू-राजस्व तय करना इतना मुश्किल था कि अंततः दरों के एक अंदाज़िया हिसाब पर ही राजस्व का निर्धारण होता था – ज़मीन का पुराना राजस्व क्या था, कृषि उत्पादों के दाम बढ़े या घटे और आसपास के इलाकों में भू-राजस्व की दर क्या है – इन्हीं बातों पर यह अनुमान निर्भर करता था।

इस महलवारी व्यवस्था को थोड़ा अदल-बदल कर पंजाब और मध्य प्रदेश में लागू किया गया। उदाहरण के लिए पंजाब में ग्रामीण समाज की कड़ियां बहुत मज़बूत थीं और मध्य प्रदेश में मालगुज़ार वर्ग के लोग छोटे-मोटे ज़मींदार थे – इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर थोड़ा फेरबदल किया गया।

सारे भारत में इन तीनों प्रकार की भूमि व्यवस्थाओं का प्रसार कैसा रहा, इसका जायज़ा 1928-29 में मिला – कुल खेती योग्य ज़मीन का 19 प्रतिशत स्थाई बंदोबस्त के अंतर्गत था, 29 प्रतिशत महलवारी बंदोबस्त के अंतर्गत तथा 52 प्रतिशत रैयतवारी बंदोबस्त के अंतर्गत था।

***

आइए, अब हम इन तीनों व्यवस्थाओं की आपस में तुलना करने की कोशिश करते हैं।

हमने देखा है कि ज़मींदारी व्यवस्था में ज़मींदारों को ज़मीन का मालिक मान लिया गया था और उन्हें यह अधिकार दिया गया था कि वो अपनी ज़मींदारी के अन्तर्गत पड़ने वाले खेतों में जिससे भी चाहे खेती करवा सकते हैं। शासन ने उनके लिए भू-राजस्व की एक निश्चित राशि तय कर रखी थी जो उन्हें नियत तिथि तक अदा करनी होती थी। इस राशि में भविष्य में कभी भी कोई बढ़ोत्तरी नहीं होनी थी। साथ ही अगर ज़मींदार अपनी कोशिशों से अपनी आमदनी बढ़ा पाता हो तो उस पर शासन का कोई दावा नहीं था।

जबकि रैयतवारी व्यवस्था में वास्तविक कृषकों को ही ज़मीन का मालिक बना रहने दिया गया। उनके लिए जो राशि तय की गई थी वह उनके कुल उत्पादन में से उत्पादन का खर्च काट कर जो बचता था उस पर निर्धारित की गई थी। कुछ जगहों पर जैसे बम्बई प्रेसीडेंसी में ज़मीन की गुणवत्ता को भी ध्यान में रखा गया

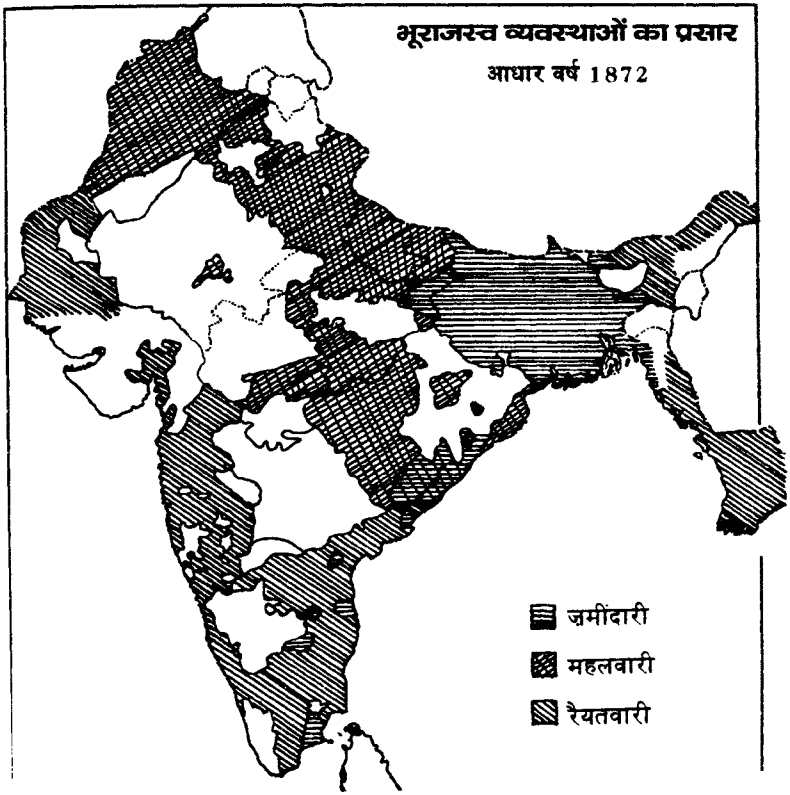

इस नक्शे में कुछ ऐसे इलाके भी दिखाई दे रहे हैं जहां तीनों में से किसी भी व्यवस्था के संकेत (Symbol) नहीं भरे गए हैं। सोचिए और मालूम करने की कोशिश कीजिए कि उन इलाकों में किस तरह की लगान व्यवस्था चल रही थी?

था। लेकिन इस व्यवस्था में कर निर्धारण केवल 20 या 30 वर्षों के लिए किया जाता था। अर्थात अगर किसी किसान ने अपनी मेहनत से अपने उत्पादन को बढ़ाया तो अगले निर्धारण में उसके लिए नियत भू-राजस्व को बढ़ाया जा सकता था। इसका असर यह हुआ कि किसानों ने खेती में सुधार की कोशिशें कम कर दीं – क्योंकि उन्हें मालूम था कि अगर उनका उत्पादन बढ़ा तो अगले निर्धारण में शासन उनसे ज़्यादा कर मांगेगा।

मध्य प्रदेश में....

आइए, अब मध्य प्रदेश में भूमि-कर व्यवस्था का क्या स्वरूप था इसे देखें। मध्य प्रदेश का सागर और नर्मदा का इलाका (यह नाम अंग्रेज़ों ने शुरुआत में मध्य प्रदेश के अपने कब्ज़े वाले इलाके को दिया था) अंग्रेज़ों के हाथ सन् 1818 में आया था। इससे पहले यहां मराठों का शासन था। मराठों ने इस इलाके में लगान वसूली की ज़िम्मेदारी गांव प्रधानों, साहुकारों, व्यापारियों व स्थानीय कर्मचारियों को दे रखी थी। इन्हें अस्थाई मालगुज़ार की पदवी दी गई थी।

अंग्रेज़ों ने शुरुआत में इस व्यवस्था को ही चलाए रखा। लेकिन उन्होंने लगान की दर तीन गुना बढ़ा दी और मालगुज़ारों को 15 प्रतिशत कमीशन भी देना शुरू किया। इस काल में लगान का बन्दोबस्त प्रत्येक वर्ष होता था। सन् 1834 में पहली बार अंग्रेज़ों ने यहां 20 वर्ष का बन्दोबस्त किया।

इस इलाके की खास बात यह थी कि इस क्षेत्र में परंपरागत रूप से ज़मींदार नहीं होते थे, साथ ही यहां जनसंख्या काफी कम थी जबकि कृषि योग्य भूमि काफी अधिक। इस कारण यहां अंग्रेज़ों ने परंपरागत रूप से लगान वसूल करने वाले वर्ग मालगुज़ारों को मध्य में रख कर अपनी व्यवस्था का निर्माण किया।

सन् 1834 की व्यवस्था के अन्तर्गत मालगुज़ारों को वसूल किए गए भू-राजस्व का एक तिहाई कमीशन के रूप में दिया गया लेकिन उन्हें किसानों द्वारा दिए जाने वाले लगान को बढ़ाने पर पाबंदी लगा दी गई। दरअसल ऐसा देखा गया था कि 1834 से पहले मालगुज़ारों पर भू-राजस्व की बढ़ी हुई दर का बोझ इतना ज़्यादा था कि करीब आधे मालगुज़ारों की सारी संपत्ति साहुकारों के हाथ गिरवी थी। इसके अतिरिक्त किसानों से लूट-खसोट भी काफी बढ़ गई थी जिसके कारण वे अपना क्षेत्र छोड़ कर भाग रहे थे।

सन् 1854 में जब इस क्षेत्र में दुबारा कर-निर्धारण हुआ तो मालगुज़ारों को ज़मीन पर मालिकाना हक दे दिया गया। इस क्षेत्र की खास बात यह थी कि जनसंख्या की कमी और कृषि योग्य भूमि की अधिकता के कारण मालगुज़ार स्वयं बड़े काश्तकार हुआ करते थे, साथ ही कई इलाके में वे किसानों के लिए साहुकारों का काम भी किया करते थे।

यह स्थिति ज़मींदारी व्यवस्था से काफी फ़र्क थी जहां ज़मींदारों को यह अधिकार था कि खेती में हुए सुधारों या खेती के फैलाव के कारण उनकी आमदनी में जो इज़ाफा होगा उसे वो अपने पास रख सकते थे।

महलवारी व्यवस्था में भूमि कर का निर्धारण गांवों या बड़े परिवारों (महल) के साथ किया गया था। यहां भी निर्धारण केवल 20 या 30 वर्षों के लिए किया जाता था। इसलिए रैयतवारी व्यवस्था में जो स्थिति थी वही स्थिति कमोबेश यहां भी बनी रही।

दूसरा मुद्दा किसानों की स्थिति का है। ज़मींदारी व्यवस्था में हमने देखा कि शासन को भूमि-कर चुकाने की ज़िम्मेदारी ज़मींदार की थी। यहां किसानों से लगान की वसूली ज़मींदार के लोग करते थे। लेकिन किसान ज़मींदार को कितना लगान देंगे यह शासन ने तय नहीं किया था – ज़मींदार अपनी सुविधानुसार या किसानों के चुकाने की क्षमता के अनुसार यह तय कर लेते थे। एक अध्ययन से यह पता चलता है कि अन्य व्यवस्थाओं के अंतर्गत आने वाले किसानों के मुकाबले ज़मींदारी व्यवस्था के अंतर्गत आने वाले किसानों से सरकार को लगान कम मिलता था लेकिन ज़मींदारी व्यवस्था में इन किसानों से ज़मींदार वर्ग अन्य कई तरह के कर वसूला करते थे जिनसे उनकी स्थिति काफी बदतर थी।

इसी से संबंधित एक दूसरी बात। ज़मींदारी व्यवस्था के किसानों को कृषि कार्य के लिए ज़्यादातर अपने ज़मींदारों से एडवान्स मिल जाता था। इस राशि पर उन्हें सूद देना पड़ता था लेकिन यह सूद बहुत ज़्यादा नहीं होता था। इसके अतिरिक्त ज़मींदार किसानों को गाहे-बगाहे उनकी ज़रूरत के अनुसार थोड़ी बहुत मदद भी करते थे। हालांकि इसके बदले वे उनसे बेगार आदि करवाते रहते थे। इन सब का अर्थ यह था कि इस क्षेत्र के किसानों को अपनी हर ज़रूरत पर बनियों या महाजनों के पास कर्ज़ के लिए नहीं जाना पड़ता था। जबकि उनके ज़मींदारों को अपने लिए तय राशि का नियत समय पर भुगतान करने के लिए अक्सर ही कर्ज़ लेना पड़ता था। ऊपर हमने देखा है कि 1793 में स्थाई बंदोबस्त की शुरुआत के 20 वर्षों के अन्दर ही करीब 40 प्रतिशत ज़मींदारी एक हाथ से दूसरे हाथ में चली गई थी।

इसके विपरीत रैयतवारी इलाके में किसानों को, जहां वे स्वयं ज़मीन के मालिक थे और जिन्हें स्थाई बंदोबस्त के ज़मींदारों की ही तरह समय पर लगान जमा करवाना पड़ता था – अक्सर ही महाजनों व बनियों के चक्कर लगाने पड़ते थे। उन्हें अपनी हर ज़रूरत के मौके पर (जैसे, कृषि कार्य के लिए, घर-परिवार में होने

यह तो हुई अंग्रेज़ों के शासन के दौरान भूमि व्यवस्थाओं की चर्चा। इस लेख को पढ़ने के बाद क्या आपकी इच्छा नहीं हो रही हैं कि यह पता लगाएं कि आपके इलाके में आज भूमिकर की क्या व्यवस्था है और ये कब से चली आ रही है? यदि आपके पास अपने इलाके की वर्तमान या पुरानी भूमिकर व्यवस्था के संबंध में कोई भी जानकारी हो तो हमें ज़रूर लिख भेजिए। आपकी सूचनाओं का स्वागत है।

वाले आयोजनों के लिए, लगान चुकाने के लिए, आदि) महाजनों या बनियों के पास जाना पड़ता था। महाजन उनकी ज़रूरतों को देखते हुए उनसे मनमाने दर पर सूद लेते थे। इसके अतिरिक्त ये महाजन स्थानीय व्यापारी भी होते थे और किसानों को अपनी उपज भी इन्हीं को बेचनी पड़ती थी। इसमें भी ये किसानों की मजबूरी का फायदा उठाते थे।

इस तरह रैयतवारी इलाकों में बनियों व महाजनों का आतंक काफी बढ़ गया था। शायद ही ऐसा कोई किसान बचा होगा जो उनके चंगुल में नहीं फंसा हो। इसका परिणाम यह हुआ कि कई जगहों पर किसानों ने इनके खिलाफ विद्रोह कर दिए। इन विद्रोहों में सबसे प्रमुख 1875-76 में पूना के इलाके में फैला विद्रोह है। इस विद्रोह के दौरान किसानों का मुख्य उद्देश्य बनियों व महाजनों का 'बही-खाता' (जिसमें वे दिए गए कर्ज़ आदि का हिसाब लिखते थे) नष्ट करना होता था। महाजनों व बनियों को शारीरिक रूप से कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाती थी।

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम एवं संदर्भ पत्रिका से जुड़े हैं।